

पूज्यपाद-उपासकाचार की जाँच

सन् १९०४ में, 'पूज्यपाद' आचार्य का बनाया हुआ 'उपासकाचार' नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसे कोल्हापुर के पंडित श्रीयुत कलापा भरमापाजी निटवे ने, मराठी पद्यानुवाद और मराठी अर्थसहित, अपने 'जैनेंद्र' छापाखाने में छापकर प्रकाशित किया था। जिस समय ग्रन्थ की यह छपी हुई प्रति मेरे देखने में आई तो मुझे इसके कितने ही पद्यों पर संदेह हुआ और इच्छा पैदा हुई कि इसके पद्यों की जाँच की जाये, और यह मालूम किया जाये कि यह ग्रन्थ कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है। तभी से मेरी इस विषय की खोज जारी है और इस खोज से अब तक जो कुछ नतीजा निकला है उसे प्रकट करने के लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

सबसे पहले मुझे देहली के 'नया मंदिर' के शास्त्र भण्डार में इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का पता चला। इस प्रति के साथ छपी हुई प्रति का जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि उसमें छपी हुई प्रति के निम्नलिखित छह श्लोक नहीं हैं—

पूर्वापराविरोधादिदूरं हिंसाद्यपापासनम्।
 प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्॥७॥
 गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
 निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥१०॥
 नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
 तपः परश्च नैर्ग्रन्थमेतत्सम्यक्त्वलक्षणं॥११॥
 मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
 धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु॥१५॥
 चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्तं चित्तं पापचर्यामुपैति।
 पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयं॥१६॥
 अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्।
 शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद् द्वादशात्मकम्॥२२॥

साथ ही, यह भी मालूम हुआ है कि देहली वाली प्रति के नीचे लिखे हुए दस श्लोक छपी हुई प्रति से अधिक हैं—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदञ्च चतुःपदम्।
 आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश॥७॥
 मृद्वी च द्रवसंपन्ना मातृयोनिस्मानिका।
 सुखानां सुखिनः प्रोक्ता तत्पुण्यप्रेरिता स्फुटम्॥५३॥
 सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।

साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥५६॥
 खर्जूरं पिंडखर्जूरं कादल्यं शर्करोपमान्।
 मृदिक्ष्वादिके भोगांश्च भुंजते नात्र संशयः॥६०॥
 ततः कुत्सितदेवेषु जायेन्ते पापपाकतः।
 ततः संसारगर्तासु पञ्चधा भ्रमणं सदा॥६१॥
 प्रतिग्रहोन्नतस्थानं पादक्षालनमर्चनम्।
 नमस्त्रिविधयुक्तेन एषणा नव पुण्ययुक्॥६४॥
 श्रुतिस्मृतिप्रसादेन तत्त्वज्ञानं प्रजायेते।
 ततो ध्यानं ततो ज्ञानं बंधमोक्षो भवेत्ततः॥७०॥
 नामादिभिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः।
 यंत्रमंत्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिम्॥७६॥
 उपवासो विधातव्यो गुरुणां स्वस्य साक्षिकः।
 सोपवासो जिनैरुक्तो न च देहस्य दंडनम्॥८१॥
 दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे।
 तं नक्तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम्॥९२॥

श्लोकों की इस न्यूनाधिकता के अतिरिक्त दोनों प्रतियों में कहीं-कहीं पद्यों का कुछ क्रम भेद भी पाया गया, और वह इस प्रकार है—

देहली वाली प्रति में, छपी हुई प्रति के ५५वें पद्य से ठीक पहले उसी प्रति का ४७वाँ पद्य, नम्बर ७० के श्लोक से ठीक पहले नं० ६८ का श्लोक, नं० ७३ वाले पद्य के अनन्तर नं० ७१ का पद्य, नं० ७८ वाले पद्य से पहले नं० ७९ का पद्य और नं० ९२ के श्लोक के अनन्तर उसी प्रति का अन्तिम श्लोक नं० ९६ दिया है। इसी तरह ९० नम्बर के पद्य के अनन्तर उसी प्रति के ९४ और ९५ नम्बरवाले पद्य क्रमशः दिये हैं।

इस क्रमभेद के सिवाय, दोनों प्रतियों के किसी किसी श्लोक में परस्पर कुछ पाठ भेद भी उपलब्ध हुआ, परन्तु वह कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता, इसलिये उसे यहाँ पर छोड़ा जाता है।

देहली की इस प्रति से संदेह कोई विशेष निवृत्ति न हो सकी, बल्कि कितने ही अंशों में उसे और भी ज्यादा पुष्टि मिली और इसलिये ग्रन्थ की दूसरी हस्तलिखित प्रतियों के देखने की इच्छा बनी ही रही। कितने ही भण्डारों को देखने का अवसर मिला और कितने ही भण्डारों की सूचियाँ भी नजर से गुजरीं, परन्तु उनमें मुझे इस ग्रन्थ का दर्शन नहीं हुआ। अंत को पिछले साल जब मैं 'जैन सिद्धान्त भवन' का निरीक्षण करने के लिये आरा गया और वहाँ करीब दो महीने तक ठहरना हुआ, तो उस वक्त भवन से मुझे इस ग्रन्थ की दो पुरानी प्रतियाँ कनड़ी अक्षर में लिखी हुई उपलब्ध हुई—एक ताड़पत्रों पर और दूसरी कागज पर। इन प्रतियों के साथ छपी हुई प्रति का जो मिलान किया गया तो

उससे मालूम हुआ कि इन दोनों प्रतियों में छपी हुई प्रति के वे छह श्लोक नहीं हैं जो देहली वाली प्रति में भी नहीं हैं, और न वे दस श्लोक ही हैं जो देहली की प्रति में छपी हुई प्रति से अधिक पाए गये हैं और जिन सबका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय, इन प्रतियों में छपी हुई प्रति के नीचे लिखे हुए पन्द्रह श्लोक भी नहीं हैं—

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः॥४॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे॥५॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः॥६॥
स्वतत्त्वपरतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते॥७॥
रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निन्द्या जायेते स्फुटम्।
द्विधातुजं पुनर्मसं पवित्रं जायेते कथम्॥११॥
अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः।
तद्रक्षार्थं च षट्स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितम्॥४१॥
दिव्यदेहप्रभावर्ताः सप्तधातुविवर्जिताः।
गर्भोत्पत्तिर्न तत्रास्ति दिव्यदेहास्ततो मताः॥५७॥
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्धवेत्॥६९॥
येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः।
तेनायं श्रीजिनोदेवो बिम्बाकारेण पूज्यते॥७२॥
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्षमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥७३॥
जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन तत्रैवाभ्यस्यते पुनः॥७४॥
अष्टमी चाष्टकर्माणि सिद्धिलाभा चतुर्दशी।
पंचमी केवलज्ञानं तस्मात्तत्र यमाचरेत्॥७९॥
कालक्षेपो न कर्तव्य आयुःक्षीणं दिने दिने।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः॥९४॥
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥९५॥

जीवन्तं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्।

मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति॥९६॥

छपी हुई प्रति से इन प्रतियों में अधिक पद्य कोई नहीं है, क्रम-भेद का उदाहरण सिर्फ एक ही पाया जाता है और वह यह है कि छपी हुई प्रति में जो पद्य ५० और ४१ नम्बरों पर दिये हैं वे पद्य इन प्रतियों में क्रमशः ३९ और ३८ नम्बरों पर अर्थात्, आगे पीछे पाये जाते हैं। रही पाठ भेद की बात, वह कुछ उपलब्ध जरूर होता है और कहीं कहीं इन दोनों प्रतियों में परस्पर भी पाया जाता है। परन्तु वह भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता और उसमें ज्यादातर छापे की तथा लेखकों की भूलें शामिल हैं। तो भी दो एक खास-खास पाठभेदों का यहाँ परिचय करा देना मुनासिब मालूम होता है, और वह इस प्रकार है—

(१) तीसरे पद्य में ‘निर्ग्रन्थः स्यात्तपस्वी च’ (तपस्वी निर्ग्रन्थ होता है) के स्थान में आरा की प्रतियों में ‘निर्ग्रन्थेन भवेन्मोक्षः’ (निर्ग्रन्थ होने से मोक्ष होता है) ऐसा पाठ दिया है। देहली वाली प्रति में भी यही पाठ ‘निर्ग्रन्थ न भवेन्मोक्षः’ ऐसे अशुद्ध रूप से पाया जाता है।

(२) छपी हुई प्रति के ३० वें पद्य में ‘न पापं च अमी देयाः’ ऐसा जो एक चरण है वह ताडपत्रवाली प्रति में भी वैसा ही है। परन्तु आरा की दूसरी प्रति में उसका रूप ‘न परेषाममीदेयाः’ ऐसा दिया है और देहली वाली प्रति में वह ‘न दातव्या इमे नित्यं’ इस रूप में उपलब्ध होता है।

(३) छपी हुई प्रति में एक पद्य^१ इस प्रकार दिया हुआ है—

वृक्षा दावाग्निनालग्नास्तत्संख्यं कुर्वते वने।

आत्मारूढतरोरग्निमागच्छन्तं न वेत्यसौ॥९१॥

इस पद्य का पूर्वाद्ध कुछ अशुद्ध जान पड़ता है और इसी से मराठी में इस पद्य का जो यह अर्थ किया गया है कि “वन में दावाग्नि से ग्रसे हुए वृक्ष उस दावाग्नि से मित्रता करते हैं, परन्तु जीव स्वयं जिस देहरूपी वृक्ष पर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई अग्नि को नहीं जानता है” वह ठीक नहीं मालूम होता। आरा की प्रतियों में उक्त पूर्वाद्ध का शुद्ध रूप ‘वृक्षा दावाग्निनालग्ना ये तत्संख्या कुरुते वने’ इस प्रकार दिया है और इससे अर्थ की संगति भी ठीक बैठ जाती है—यह आशय निकल आता है कि ‘एक मनुष्य वन में, जहाँ दावाग्नि फैली हुई है, वृक्ष पर चढ़ा हुआ, उन दूसरे वृक्षों की गिनती कर रहा है जो दावाग्नि से ग्रस्त होते जाते हैं (यह कह रहा है कि अमुक वृक्ष को आग लगी, वह जला और वह गिरा!) परन्तु स्वयं जिस वृक्ष पर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई आग को नहीं देखता है। इस अलंकृत आशय का स्पष्टीकरण भी ग्रन्थ में अगले पद्य द्वारा किया गया है और इससे

१. देहली की प्रति में भी यह पद्य प्रायः इसी प्रकार से है, सिर्फ इतना भेद है कि उसमें पूर्वाद्ध को उत्तराद्ध और उत्तराद्ध को पूर्वाद्ध बनाया गया है।

दोनों पद्यों का सम्बन्ध भी ठीक बैठ जाता है।

आरा की इन दोनों प्रतियों में ग्रन्थ की श्लोक संख्या कुल ७५ दी है, यद्यपि, अंत के पद्यों पर जो नंबर पड़े हुए हैं उनसे वह ७६ मालूम होती है। परन्तु 'न वेत्ति मद्यपानतः' इस एक पद्य पर लेखकों की गलती से दो नम्बर ८ और ९ पड़ गये हैं जिससे आगे के संख्यांको में बराबर एक एक नम्बर की वृद्धि होती चली गई है। देहली वाली प्रति में भी इस पद्य पर भूल से दो नम्बर १३ और १४ डाले गये हैं और इसीलिये उसकी श्लोक संख्या १०० होने पर भी वह १०१ मालूम होती है। छपी हुई प्रति की श्लोक संख्या ९६ है। इस तरह आरा की प्रतियों से छपी हुई प्रति में २१ और देहली वाली प्रति में २५ श्लोक बढ़े हुए हैं। ये सब बढ़े हुए श्लोक 'क्षेपक' हैं जो मूल ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्रतियों में किसी तरह पर शामिल हो गये हैं और मूल ग्रन्थ के अंगभूत नहीं हैं। इन श्लोकों को निकालकर ग्रन्थ को पढ़ने से उसका सिलसिला ठीक बैठ जाता है और वह बहुत कुछ सुसम्बद्ध मालूम होने लगता है। प्रत्युत् इसके, इन श्लोकों को शामिल करके पढ़ने से उसमें बहुत कुछ बेढंगापन आ जाता है और वह अनेक प्रकार की गड़बड़ी तथा आपत्तियों से पूर्ण जँचने लगता है। इस बात का अनुभव सहृदय पाठक स्वयं ग्रन्थ पर से कर सकते हैं।

इन सब अनुसंधानों के साथ ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि छपी हुई प्रति जिस हस्तलिखित प्रति पर से तैयार की गई है उसमें तथा देहली की प्रति में जो पद्य बढ़े हुए हैं उन्हें या तो किसी विद्वान् ने व्याख्या आदि के लिये अपनी प्रति में टिप्पणी के तौर पर लिख रखा था या ग्रन्थ की किसी कानड़ी आदि टीका में वे विषयसमर्थानादि के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से दिये हुए थे, और ऐसी किसी प्रति से नकल करते हुए लेखकों ने उन्हें मूल ग्रन्थ का ही एक अंग समझकर नकल कर डाला है। ऐसे ही किसी कारण से ये सब श्लोक अनेक प्रतियों में प्रक्षिप्त हुए जान पड़ते हैं। और इसलिये यह कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि ये बढ़े हुए पद्य दूसरे अनेक ग्रन्थों के पद्य हैं। नमूने के तौर पर यहाँ चार पद्यों को उद्धृत करके बतलाया जाता है कि वे कौन कौन से ग्रन्थ के पद्य हैं—

गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।

निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥१०॥

यह पद्य, जो इन्द्रनन्दि के 'नीतिसार' ग्रन्थ का पद्य है और उसमें भी नं० १० पर दिया हुआ है।

सज्जातिः सद्ग्रहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।

साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥५६॥

यह पद्य, जो देहली वाली प्रति में पाया जाता है, श्रीजिनसेनाचार्य के 'आदिपुराण' का पद्य है और इसका यहाँ पूर्वापरपद्यों के साथ कुछ भी मेल मालूम नहीं होता।

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।

तार्क्षमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥७३॥

यह श्रीसोमदेवसूरि के 'यशस्तिलक' ग्रन्थ का पद्य है और उसके आठवें आश्वास में पाया जाता है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥९५॥

यह 'चाणक्य नीति' का श्लोक है।

टीका-टिप्पणियों के श्लोक किस प्रकार से मूल ग्रन्थ में शामिल हो जाते हैं इसका विशेष परिचय पाठकों को 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार की जाँच'^२ नाम के लेख द्वारा कराया जायेगा।

यहां तक के इस सब कथन से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि छपी हुई प्रति को देखकर उसके पद्यों पर जो कुछ संदेह उत्पन्न हुआ था वह अनुचित नहीं था बल्कि यथार्थ ही था, और उसका निरसन आरा की प्रतियों पर से बहुत कुछ हो जाता है। साथ ही, यह बात ध्यान में आ जाती है कि यह ग्रन्थ जिस रूप से छपी हुई प्रति में तथा देहली वाली प्रति में पाया जाता है उस रूप में वह पूज्यपाद का 'उपासकाचार' नहीं है, बल्कि छपी हुई प्रति में से, ऊपर दिये हुए, २१ श्लोक और देहलीवाली प्रति में से २५ श्लोक कम कर देने पर वह पूज्यपाद का उपासकाचार रहता है, और उसका रूप प्रायः वही है जो आरा की प्रतियों में पाया जाता है। संभव है कि ग्रन्थ के अंत में कुछ पद्यों की प्रशस्ति और हो और वह किसी जगह की दूसरी प्रति में पाई जाती हो। उसके लिये विद्वानों को अन्य स्थानों की प्रतियाँ भी खोजनी चाहिए।

अब देखना यह है कि, यह ग्रन्थ कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है। 'पूज्यपाद' नाम के आचार्य एक से अधिक हो चुके हैं। उनमें सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और बहुमाननीय आचार्य 'जैनेन्द्र' व्याकरण तथा 'सर्वार्थसिद्धि' आदि ग्रन्थों के कर्ता हुए हैं। उनका दूसरा नाम 'देवनन्दी' भी था, और देवनन्दी नाम के भी कितने ही आचार्यों का पता चलता है।^३ इससे, पर्याय नाम की वजह से यदि उनमें से ही किसी का ग्रहण किया जाये तो किसका ग्रहण किया जाये, यह कुछ समझ में नहीं आता। ग्रन्थ के अंत में अभी तक कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई और न ग्रन्थ के शुरू में किसी आचार्य का स्मरण किया गया है। हाँ आरा की एक प्रति के अंत में समाप्तिसूचक जो वाक्य दिया है वह इस प्रकार है—

२. माणिकचंद्रग्रन्थमाला में प्रकाशित 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' पर जो ८४ पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना लिखी गई है उसी में रत्नकरण्डक श्रावकाचार की यह सब जाँच शामिल है।

३. एक देवनन्दी विनयचंद्र के शिष्य और 'द्विसंधान' काव्य की 'पदकौमुदी' टीका के कर्ता नेमिचंद्र के गुरु थे, और एक देवनन्दी आचार्य ब्रह्मलाज्यक के गुरु थे जिसके पढ़ने के लिये संवत् १६२७ में 'जिनयज्ञकल्प' की वह प्रति लिखी गई थी जिसका उल्लेख सेठ माणिकचंद्र के 'प्रशस्तिसंग्रह' रजिस्टर में पाया जाता है।

“इति श्रीवासुपूज्यपादाचार्यविरचित उपासकाचारः समाप्तः॥”

इसमें ‘पूज्यपाद’ से पहले ‘वासु’ शब्द और जुड़ा है और उससे दो विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। एक तो यह कि यह ग्रन्थ ‘वासुपूज्य’ नाम के आचार्य का बनाया हुआ है तथा लेखक के किसी अभ्यास की वजह से पूज्यपाद का नाम चित्त पर ज्यादा चढ़ा हुआ तथा अभ्यास में अधिक आया हुआ होने के कारण ‘पाद’ शब्द उसके साथ में गलती से और अधिक लिखा गया है, क्योंकि ‘वासुपूज्य’ नाम के भी आचार्य हुए हैं— एक ‘वासुपूज्य’ श्रीधर आचार्य के शिष्य थे जिनका उल्लेख माघनदिश्रावकाचार की प्रशस्ति में पाया जाता है और ‘दानशासन’ ग्रन्थ के कर्ता भी एक ‘वासुपूज्य’ हुए हैं, जिन्होंने शक संवत् १३४३ में उक्त ग्रन्थ की रचना की है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ ‘पूज्यपाद’ आचार्य का ही बनाया हुआ है और उसके साथ में ‘वासु’ शब्द लेखक के वैसे ही किसी अभ्यास के कारण गलती से जुड़ गया है। ज्यादातर ख्याल यही होता है कि यह पिछला विकल्प ही ठीक है, क्योंकि आरा की दूसरी प्रति के अंत में भी यही वाक्य दिया हुआ है और उसमें ‘वासु’ शब्द नहीं है। इसके सिवाय, छपी हुई प्रति और देहली की प्रति में भी यह ग्रन्थ पूज्यपाद का ही बनाया हुआ लिखा है। साथ ही, “दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ” नाम की सूची में भी पूज्यपाद के नाम के साथ एक श्रावकाचार ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इन सब बातों से यह तो पाया जाता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादाचार्य का बनाया हुआ है, परन्तु कौन से ‘पूज्यपाद’ आचार्य का बनाया हुआ है, यह कुछ मालूम नहीं होता।

ऊपर जिस परिस्थिति का उल्लेख किया गया है उस पर से, यद्यपि, यह कहना आसान नहीं है कि यह ग्रन्थ अमुक पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है, परन्तु इस ग्रन्थ के साहित्य को सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थों के साहित्य के साथ मिलान करने पर इतना जरूर कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थों के कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य का बनाया हुआ तो नहीं है। इन ग्रन्थों की लेखनी जिस प्रौढ़ता को लिये हुए है, विषय प्रतिपादन का इनमें जैसा कुछ ढंग है और जैसा कुछ इनका शब्द विन्यास पाया जाता है, उसका इस ग्रन्थ के साथ कोई मेल नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में श्रावकधर्म का भी वर्णन है, परन्तु वहाँ लक्षणादिरूप से विषय के प्रतिपादन में जैसी कुछ विशेषता पाई जाती है वह यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के कर्ता का ही बनाया हुआ होता तो, चूँकि यह श्रावकधर्म का एक स्वतंत्र ग्रन्थ था इसलिये, इसमें श्रावकधर्म सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त उन सब विशेषताओं का भी उल्लेख जरूर होना चाहिए था जो सर्वार्थसिद्धि में पाई जाती हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि कितनी ही जगह कुछ कथन परस्पर विभिन्न भी पाया जाता है, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है—

सर्वार्थसिद्धि में ‘अनर्थदंडविरति’ नाम के तीसरे गुणव्रत का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

“असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः॥ अनर्थदण्डः पंचविधः। अपध्यानं, पापोपदेशः, प्रमादचरितम्, हिंसाप्रदानम्, अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजय वध—

बन्धनाङ्गच्छेद -परस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। तिर्यक्क्लेशवाणिज्य-प्राणिवधकारंभादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिल-सेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितं। विषकण्टकशस्त्राग्निरञ्जुकशा-दण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवण-शिक्षण-व्यापृतिरशुभश्रुतिः॥”

इस स्वरूप कथन में अनर्थदंडविरति का लक्षण, उसके पाँच भेदों का नामनिर्देश और फिर प्रत्येक भेद का स्वरूप बहुत ही जँचे तुले शब्दों में बतलाया गया है। और यह सब कथन तत्त्वार्थसूत्र के उस मूल सूत्र में नहीं है जिसकी व्याख्या में आचार्य महोदय ने यह सब कुछ लिखा है। इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि मूल ग्रन्थ के अनुरोध से उन्हें वहाँ पर ऐसा लिखना पड़ा है। वास्तव में, उनके मतानुसार, जैनसिद्धांत का इस विषय में ऐसा ही आशय जान पड़ता है कि उसी को उन्होंने प्रदर्शित किया है। अब उपासकाचार में दिये हुए इस व्रत के स्वरूप को देखिये-

पाशमण्डलमार्जारविषशस्त्रकृशानवः ।

न पापं च अमी देयास्तृतीयं स्याद्गुणव्रतम्॥१९॥

इसमें अनर्थदंडविरति का सर्वार्थसिद्धि वाला लक्षण नहीं है और न उसके पाँच भेदों का कोई उल्लेख है। बल्कि यहाँ इस व्रत का जो कुछ लक्षण अथवा स्वरूप बतलाया गया है। वह अनर्थदण्ड के पाँच भेदों में से ‘हिंसाप्रदान’ नाम के चौथे भेद की विरति से ही सम्बन्ध रखता है। इसलिये, सर्वार्थसिद्धि की दृष्टि से यह लक्षण लक्ष्य के एक देश में व्यापने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है, और कदापि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता का नहीं हो सकता।

इस प्रकार के विभिन्न कथनों से भी यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के कर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ मालूम नहीं होता, तब यह ग्रन्थ दूसरे कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है और कब बना है, यह बात अवश्य जानने के योग्य है और इसके लिये विद्वानों को कुछ विशेष अनुसंधान करना होगा। मेरे ख्याल में यह ग्रन्थ पं० आशाधर के बाद का १३वीं शताब्दी से पीछे का बना हुआ मालूम होता है। परन्तु अभी मैं इस बात को पूर्ण निश्चय के साथ कहने के लिये तय्यार नहीं हूँ। विद्वानों को चाहिए कि वे स्वयं इस विषय की खोज करें और इस बात को मालूम करें कि किन किन प्राचीन ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के पद्यों का उल्लेख पाया जाता है। साथ ही, उन्हें इस ग्रन्थ की दूसरी प्राचीन प्रतियों की भी खोज लगानी चाहिए। संभव है कि उनमें से किसी प्रति में इस ग्रन्थ की प्रशस्ति उपलब्ध हो जाये।

इस लेख पर से पाठकों को यह बतलाने की जरूरत नहीं है कि भण्डारों में कितने ही ग्रन्थ कैसी संदिग्धवस्था में मौजूद हैं, उनमें कितने अधिक क्षेपक शामिल हो गये हैं। और वे मूल ग्रन्थकर्ता की कृति को समझने में क्या कुछ भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी हालत में, प्राचीन प्रतियों पर से ग्रन्थों की जाँच करके उनका यथार्थ स्वरूप प्रकट करने की और उसके लिये एक जुदा ही विभाग स्थापित करने की कितनी अधिक जरूरत है, इसका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। प्राचीन प्रतियाँ दिन

पर दिन नष्ट होती जाती हैं। उनसे शीघ्र स्थायी काम ले लेना चाहिए। नहीं तो उनके नष्ट हो जाने पर यथार्थ वस्तुस्थिति के मालूम करने में फिर बड़ी कठिनता होगी और अनेक प्रकार की दिक्कतें पैदा हो जायेंगी। कम से कम उन खास खास ग्रन्थों की जाँच तो जरूर हो जानी चाहिए जो बड़े-बड़े प्राचीन आचार्यों के बनाये हुए हैं अथवा ऐसे आचार्यों के नाम से नामांकित हैं और इसलिये उनमें उसी नाम के प्राचीन आचार्यों के बनाए हुए होने का भ्रम उत्पन्न होता है। आशा है, हमारे दूरदर्शी भाई इस विषय की उपयोगिता को समझकर उस पर जरूर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

सरसावा, जिला-सहारनपुर।
ता. २५ नवम्बर सन् १९२१

जुगलकिशोर मुख्तार

